संगीतसमयसार के सन्दर्भ में गायक-गुण-दोष-विवेचन

श्री वाचस्पति मौद्गल्य

संगीतसमयसार दिगम्बर जैनाचार्य **पार्श्वदेव,** जिनका समय तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है[1], के द्वारा विरचित संगीत-विषयक अद्भुत ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ अपने आप में पूर्वाचार्यों के मतों के साथ-साथ समसामयिक मतों को भी समाहित किए हुए है। गम्भीर, विस्तृत तथापि रोचक शैली, ग्रन्थकर्ता की विशेषता मानी जानी चाहिये। अपने प्रकाण्ड-पाण्डित्य के कारण लेखक ने यत्र तत्र पूर्वाचार्यों के साथ विमत प्रकट करते हुए अपने मतों को जिस प्रांजल तथा सुस्पष्ट विधि से प्रस्थापित किया है वे अपने में निदर्शनभूत स्थल बन पड़े हैं। इन्होंने पूर्वाचार्यों के मत का अनुसरण भी किया है, परन्तु वहां अपने कर्तृत्व तथा विद्वत्ता की छाप अवश्य छोड़ी है। प्रस्तुत लेख में ऐसे ही प्रकरण का अध्ययन उपस्थित है जो स्वयं ग्रन्थकर्ता के अनुसार महान् संगीताचार्य मतंगमुनि (बृहद्देशीकार) के द्वारा वर्णित विषय था[2] परन्तु भारतीय-साहित्य के दुर्भाग्य से मतंगमुनिप्रणीत प्रख्यात ग्रन्थ **बृहद्देशी** खण्डित रूप में ही उपलब्ध है तथा उसके उपलब्धभाग में प्रस्तुत प्रकरण का कहीं भी उल्लेख नहीं है अतः सांगीतिक कलाकारों के गुण-दोषानुसार उन की वरीयता-निर्धारण के मानदण्ड जानने के लिये **संगीतसमयसार** एकमात्र प्रामाणिक-ग्रंथ है। प्रस्तुत लेख में उन्हीं मानदण्डों के अनुसार, पूर्वाचार्यों एवं स्वयं आचार्य पार्श्वदेव के अनुसार वर्णित गायकों के गुणावगुण के आधार पर गायकों की उत्तममध्यमाधम श्रेणियों का विश्लेषण प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

मानव के स्वभावानुसार जीवन के प्रत्येक-क्षेत्र में मानवों में परस्पर प्रतिस्पर्धा दृष्टिगोचर होती है। संगीत का क्षत्र भी इस जन्मजात, ईर्ष्यालु तथा प्रतिस्पर्धात्मक-प्रवृत्ति से अछूता नहीं है। अधिक धन-संपत्ति की इच्छा, ईर्ष्या, स्वामिविनोद, निजी गोष्ठियों में पराजय अथवा कारणान्तर से वैर, मतभिन्नता, स्पृहा, असूया, यशस्कामिता अथवा विद्यामद आदि कुछ मूल कारण हैं जिनके लिये दो गायक-कलाकार परस्पर परीक्षा के लिये उद्यत हो जाते हैं।[3] इस प्रकार के उद्यम को आचार्यों ने तीन भागों में विभाजित किया है वे हैं, (१) वाद (२) जल्प (३) वितण्डा।[4] इन परीक्षण-विधाओं में निर्णायक की भूमिका अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। निर्णायक स्वयं विवेकशील होते हुए भी निर्णयार्थ वादसभा में कुछ सहायकों की अपेक्षा रखता है। निर्णायक सहित इन सहायकों आदि को वाद के अङ्ग नाम से अभिहित किया गया है।[5] वाद के (१) वादी, (२) प्रतिवादी, (३) सभापति, एवं (४) सभ्य नाम से चार आवश्यक घटक दीख पड़ते हैं जिनकी परिभाषा निम्न रूप में दी जा सकती है :—

वादी :—

प्रतिपक्षी की बात को तत्क्षण अनूदित कर सकने वाला, सुबुद्धि, शास्त्र का अधिकारी विद्वान् तथा प्रतिपक्षी के दूषणों का तत्काल निराकरण करके स्वपक्ष को सिद्ध करने वाला 'वादी' कहलाता है।[6]

प्रतिवादी :—

सुवक्ता, शास्त्रज्ञ, सुबुद्धि, बहुश्रुत एवं वादिपक्ष का खण्डन कर सकने वाला प्रतिवादी कहा जा सकता है। सामान्यतः वादी में उपलब्ध सभी गुण प्रतिवादी में भी उपलब्ध होने चाहियें।[7]

---

१. आचार्य बृहस्पति, संगीतसमयसार भूमिका पृष्ठ-१३.१९७७ संस्करण, कुन्दकुन्द भारती दिल्ली द्वारा प्रकाशित।
२. संगीतसमयसार ६.३.
३. वही ६.२२-२३.
४. न्यायसूत्र १/२. १-३। तुलनीय काव्यमीमांसा द्वितीयाध्याय (चौखम्बा १९६४ सं० गङ्गासागरराय)
५. संगीतसमयसार ६.३
६. वही ६.२०.
७. वही ६.२१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभापति :—

परम्परा तथा उपलब्ध वृत्तान्तों के आधार पर सभापति साधारणतया राजा ही होता है। संभवतः इसलिये क्योंकि राजा का निर्णय सर्वमान्य होता है तथा निर्णय के उल्लंघन की धृष्टता करने वाले के प्रति राजा दण्डपात भी कर सकता है। लेकिन सभापति एवं निर्णायक-मण्डल-अध्यक्ष के रूप में राजा में कुछ गुण वांछनीय हैं जिनके अनुसार राजा, चित्रविचित्र-सुन्दर-वितानों से आच्छादित सुगन्धित सभास्थल में पूर्वाभिमुख-सिंहासन पर आरूढ़ हो श्रीमान्, दाता, गुणग्राहक, भावज्ञ, कीर्तिलम्पट, सत्यवक्ता, शृंगार करने वाला, मार्गी एवं देशी द्विविध संगीत का सम्यक् ज्ञाता, बुद्धिमान्, सर्वकलाध्यक्ष, पारितोषिक देने वाला संगीतादिगुणदोषज्ञ, सर्वभाषाभिज्ञ एवं प्रियवक्ता हो।[1]

सभ्य :—

सभ्यों में अनेकविध दर्शक एवं विद्वान् अभीष्ट हैं। वे हैं :—

(१) महारानी, (२) विलासिनी नारियां, (३) सचिव, (४) दर्शक, (५) कवि, (६) रसिक। इनका विवरण अधः-प्रकार से किया जा सकता है।

१. महारानी

राजा के वामभाग में स्थित, रूपयौवनसंपन्ना सदाशृंगारलोभिनी, सौभाग्यवती, पति के मन तथा नेत्रों के भावों के अनुसार आचरण करने वाली।[2]

२. विलासिनी नारियां

रूप यौवन सम्पन्न, सर्वविधाभूषणों से विभूषित, हाव-भाव-विलासों से भरपूर, रतिक्रीड़ादिनिपुण, विलासिनी नारियां सभापति के आसन पर उपविष्ट राजा के पृष्ठ भाग में बैठाई जाएं।[3]

३. सचिव

कार्याकार्यविभागज्ञ, नीतिशास्त्रविशारद, सर्वविधकार्यों के निष्पादन में निष्णात, चतुर और स्वामिभक्त हों।[4]

४. दर्शक

सामान्यतः सभ्यापरपर्यायवाची इन दर्शकों अथवा श्रोताओं में निम्न गुण अपेक्षित हैं—वे संगीतशास्त्रज्ञ, लक्ष्यलक्षण-शास्त्रज्ञ, अनुद्धत, मध्यस्थ तथा गुणदोषनिरूपणसमर्थ हों।

५. कवि

ऐसे कवि जो रसभावज्ञ, छन्दालंकारज्ञ, तीव्रबुद्धि, प्रतिभासम्पन्न तथा रीतिनिर्वाह में निपुण हों।

६. रसिक

काव्यनाटकादि से उद्भूत रस के आस्वादन की दृढ़ेच्छा वाले तथा सूक्ष्मभावों और अर्थों के ज्ञान से आनन्दित मन वाले हों।

यह सभी यथायोग्य राजा के दक्षिण भाग में बैठाए जाएं।

इनके अतिरिक्त राजा के वामभाग की ओर अन्य वाग्गेयकार, कविताकार, नर्तक आदि तत्तद्विद्यापारीण विद्वान् राजा के समीपवर्ती आसनों पर यथोचित उपविष्ट हों। यह सब भी लक्ष्यलक्षण-शास्त्रज्ञ एवं संगीतांगों में निष्णात हों।[5]

इस प्रकार की सभा में उपविष्ट सभापति को चाहिये कि वह स्त्री-पुरुष, वृद्ध-युवा, दरिद्र-धनी, विनयशील-उद्धत, दुःखी-प्रसन्न, शिष्य-गुरु, परस्पर असमान विद्यावाले, भीरु-वीर आदि जनों को वाद करने की अनुमति न दे चाहे इसके कितने भी ठोस कारण अथवा आधार उपस्थित क्यों न हों क्योंकि धन, विद्या, वय तथा सम्प्रदाय-परम्परा आदि में समानजनों का ही परस्पर वाद अभीष्ट है।[6]

---

१. संगीतसमयसार ६.८—६.
२. वही ६.१०-११.
३. वही ६.११-१२.
४. वही ६.१३.
५. वही ६.१४-१६.
६. वही ६.२४-२६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वादियों द्वारा किया जाने वाला वाद परस्पर पणबन्ध से (शर्त बांध कर) होता है। प्राय: वादी-प्रतिवादी वादकाल में किए गए पणबन्ध में अत्युक्ति, देहदण्ड, सर्वस्वहरण, अभद्रवाक्य आदि सभ्यव्यवहारानुचित ऐसी विधियों का आलम्बन कर बैठते हैं जो वाद में नहीं अपितु जल्प अथवा वितण्डा आदि शास्त्रार्थ-प्रकारों में सन्निहित की जा सकती हैं। यह जल्प अथवा वितण्डादि शास्त्रार्थ-प्रकार जैनाचार्यों को परम्परया अभीष्ट नहीं हैं।[1] जैन-परम्परा मूलत: शान्तिप्रिय रही है अत: उस परम्परा के आचार्य भी परस्परशास्त्रार्थ काल में पूर्णत: शान्तिपरक ज्ञानतत्त्वान्वेषिणी विधा का अवलम्बन करके केवल वाद नामक शास्त्रार्थपरम्परा के माध्यम से ही शास्त्रार्थनिर्णय की स्वीकृत देते हैं। इन कारणों को ध्यान में रखकर ही सभापति को वादनिर्णय करते समय कलाकारों के गुण-दोषों का तारतम्य जानकर न केवल जय-पराजय-निर्णय करना चाहिये अपितु पणबन्ध में किये गए अत्युक्ति, देहदण्ड, सर्वस्वहरण और अभद्रवाक्य आदि का निवारण भी सपदि कर देना चाहिये।[2]

संगीतशास्त्र में "**संगीत**" पद से गीत, वाद्य एवं नृत्त इन तीनों का ग्रहण किया जाता है। इनमें नृत को वाद्य तथा वाद्य को गीत का अनुवर्ती मान कर गीत अर्थात् गायनविधा को श्रेष्ठ माना गया है। संगीतशास्त्र में प्राय: सर्वत्र गायन का महत्व एवं उपयोग सुवर्णित है।[3] अत: गायन के माध्यमभूत "**गायकों**" में संगीतशास्त्रियों ने विभिन्न विशेष आकांक्षाओं को परिकल्पित किया है जिन्हें परत: "**गायक-वादनिर्णय**" के आधाररूप में भी स्वीकार किया गया।

इन विशेषताओं में प्रथमत: गायक में "**सुशारीर**" ध्वनि की आकांक्षा की जाती है। इसका महत्व इसके लक्षण से ही स्पष्ट है जो सभी आचार्यों में निर्विवाद तथा एक-सा ही है—

"बिना किसी अभ्यास के ही, प्रारम्भिक एवं मुख्यादि स्वरसंनिवेश से युक्त तत्तद् रागों को, विस्वरता और संकरता प्रभृति दोषों से बचाकर प्रकट करने की सामर्थ्य से युक्त ऐसी ध्वनि जो शरीर के साथ ही उद्भूत होती है, **शारीर** के नाम से जानी जाती है।[4] उपर्युक्त सामर्थ्य एक विशिष्ट संस्कार का नाम है जो रागाभिव्यक्ति का बीज है जिसके बिना या तो राग का प्रकाशन ही नहीं हो पायेगा अथवा यथाकथंचित् प्रकाशन होने पर निश्चित रूप में वह हास्य का कारण होगा। यह सामर्थ्य अभ्यास से प्राप्त नहीं हो सकती लेकिन विकसित अवश्य हो सकती है।[5]

इस शारीर ध्वनि में जब तारस्थान में भी माधुर्य, स्निग्धता, गाम्भीर्य, मार्दव, रंजकता, पुष्टता, कान्तिमत्त्व एवं अनुरणनात्मकता आदि गुण विद्यमान रहें तो इसे ही सुशारीर[6] के नाम से जाना जाता है। यह सुशारीर ध्वनि, विद्या के दान से तपस्या से अथवा पार्वतीपति भगवान् शंकर की भक्ति से उत्पन्न अत्यधिक भाग्योदय के कारण ही प्राप्त हो सकती है।[7] अन्यथा सामान्यत: संसार में अनुरणनरहितता, रूक्षता, रंजकताराहित्य, निर्बलता, विस्वरता, काकित्व (कौए सी आवाज होना), मन्द्रमध्यतारादि स्थानों में से किसी एक में गायन न कर सकना, ध्वनि का कृश एवं कर्कश होना आदि दोषों से युक्त "कुशारीर"[8] ध्वनि वाले अनेकश: गायक दृष्टिगोचर होते हैं। यह निश्चित रूप में त्याज्य ही माने जाते हैं।

आचार्य पार्श्वदेव ने भी इन सभी विषेषताओं अथवा दोषों को माना है परन्तु इनका वर्गीकरण पृथक्-पृथक् किया है जो पूर्वाचार्यों से निश्चित ही इनका मतवैभिन्य दर्शाता है। उनके अनुसार शारीरध्वनि के चार भेद हैं : (i) कडाल, (ii) मधुर, (iii) पेशल (iv) बहुभङ्गी। इनका विवरण निम्न प्रकार से दिया गया है—

---

१. द्रष्टव्य-प्रमेयकमलमार्तण्ड, जय-पराजय व्यवस्था प्रकरण (१९४१) निर्णयसागर प्रेस।
२. संगीतसमयसार-९.२०९.
३. संगीतरत्नाकर—१९७६ संस्करण, अड्यार लाईब्रेरी मद्रास, स्वरगताध्याय पदार्थसंग्रहप्रकरण २४-३०.
४. संगीतरत्नाकर ३.८२.
   तुलनीय संगीतदर्पण, १९५२ मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियण्टल सीरिज ३१७-३१८.
   तथा संगीतसमयसार २.३२.
५. संगीतरत्नाकर ३.८२ पर कल्लिनाथी टीका
६. सगीतरत्नाकर ३.८३-८४.
   तुलनीय संगीतदर्पण ३१८-३१९.
७. संगीतरत्नाकर ३.८६
   तुलनीय संगीतदर्पण ३२१.
८. संगीतरत्नाकर—३.८४-८५
   तुलनीय संगीतदर्पण ३२०-३२१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) **कडाल**—मन्द्र, मध्य एवं तार इन तीनों स्वरस्थानों में तीक्ष्णता युक्त ध्वनि,

(ii) **मधुर**—मन्द्र एवं मध्य स्वरस्थानों में मधुरतायुक्त,

(iii) **पेशल**—तार में राग प्रकाशक ध्वनि,

(iv) **बहुभङ्गी**—उपर्युक्त तीनों प्रकारों का मिश्रण ।

उपर्युक्त चारों प्रकारों में से बहुभङ्गी नामक चतुर्थ प्रकार के पुनः चार भेद हैं—

(i) कडालमधुर, (ii) मधुरपेशल, (iii) कडालपेशल एवं (iv) शारीरत्रयमिश्रक ।

"बहुभङ्गी" ध्वनि को ही कण्ठगत गुणों अथवा दोषों के आधार पर पुनः अष्टप्रकारक कहा गया है । वे आठ प्रकार हैं—

(i) माधुर्य, (ii) श्रावकत्व, (iii) स्निग्धत्व, (iv) घनत्व,(v) स्थानकत्रयशोभा,(vi) खेटि, (vii) खेणि, (viii) भग्न शब्द ।

इनमें से पूर्व पांच कण्ठ के गुण तथा परवर्ती तीन कण्ठ के दोष कहे गए हैं ।[1] इन उपर्युक्त वर्गीकृत शारीर भेदों को पूर्वाचार्यों द्वारा वर्णित गुण-दोषों में संनिहित किया जा सकता है । मात्र ईषत् प्रयास तथा तात्त्विक विवेचन ही इसके लिए अपेक्षित है । अतिविस्तारभय से इस प्रसंग को यहाँ नहीं कहा जा रहा है परन्तु आचार्य पार्श्वदेव द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण इसे एक नया रंग देता है ।

इसके अतिरिक्त अन्यस्थानों पर भी आचार्य **पार्श्वदेव** गायकों के गुण-दोषों का वर्गीकरण प्रस्तुत करते समय पूर्वाचार्यों से मतवैभिन्य प्रस्तुत करते हैं । पूर्वाचार्यों में **भरत-मुनि** के पश्चात् हुए संगीत के सर्वमान्य आचार्य **शाङ्गदेव** (१३वीं शती) का भी आचार्य **पार्श्वदेव** यथावत् अनुसरण नहीं करते हैं। संगीत की, आचार्य **पार्श्वदेव** से पूर्ववर्ती परम्परा, जिसका पालन **संगीतरत्नाकर** तथा **संगीतदर्पण** आदि ग्रन्थों के ख्यातनामा रचयिताओं ने भी किया है, में गायक के गुणदोषों का वर्णन एक क्रम से प्राप्त होता है । इस परंपरा का पालन करने वाले **चतुरदामोदर पंडित** (१६वीं शती) आदि विद्वानों के होने पर भी **संगीतरत्नाकर** सदृश महान् ग्रंथ की विख्यात "**सुधाकर**" टीका के रचयिता **सिंहभूपाल** (१४वीं शती) तथा "**कलानिधि**" टीका के रचयिता **कल्लिनाथ** द्वारा **संगीतसमयसारकृत्** के उद्धरणों को अपनी टीका में उद्धृत करते हुए आचार्य पार्श्वदेव द्वारा विवृत गुण-दोषों आदि विषयों को इन परम्परावादी आचार्यों के मत के साथ-साथ अन्य मत के रूप में स्थापित करना, इनके द्वारा प्रस्थापित वर्गीकरण पर स्वीकृति की मोहर लगाने सदृश कार्य माना जाना चाहिये। पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत गुण निम्नक्रम से हैं :

गायकों में आकांक्षित गुण :—

(१) हृद्यशब्द (२) सुशारीर, (३) ग्रहमोक्षविचक्षण, (४) रागरागाङ्गभाषाङ्गक्रियाङ्गोपाङ्गकोविद, (५) प्रबन्धगाननिष्णात, (६) विविधालप्तितत्त्ववित्, (७) सर्वस्थानोत्थगमकेष्वनायासलसद्गति, (८) वश्यकण्ठ, (९) तालज्ञ, (१०) सावधान, (११) जितश्रम, (१२) शुद्धच्छायालगाभिज्ञ, (१३) सर्वकाकुविशेषवित् (१४) अनेकस्थायसंचार, (१५) सर्वदोषविवर्जित, (१६) क्रियापर, (१७) युक्तलय, (१८) सुघट, (१९) धारणान्वित, (२०) स्फूर्जन्निर्जवन: (२१) हारि,(२२) रहःकृत्,(२३)भजनोद्धुर, (२४) सुसंप्रदाय ।[2]

इन पारिभाषिक-पदों का विवरण निम्नप्रकार से क्रमशः प्रस्तुत है :

(१)**हृद्यशब्द** :—

हृद्य, अर्थात् रमणीय शब्द अर्थात् ध्वनि है जिसकी । यहाँ शब्द से ध्वनि ही अभिप्रेत है । वैयाकरण भी मतान्तर में ध्वनि को शब्द मानते हैं ।[3]

(२) **सुशारीर** :—

प्रस्तुत लेख में इसको सर्वमुख्य मानते हुए वर्णन पूर्व ही किया जा चुका है । उस आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि सुशारीर—ध्वनि से विरहित गायक अच्छा गायक हो ही नहीं सकता ।

(३) **ग्रहमोक्षविचक्षण** :—

ग्रह तथा मोक्ष से क्रमशः गीत को आरंभ करने वाला स्वर तथा गीत को समाप्त करना, अभीष्ट अर्थ हैं । यही अर्थ संगीतरत्नाकर के दोनों टीकाकारों को भी इष्ट है । इनमें विचक्षणता अर्थात् ग्रहतालयादि के अनुसार गीत का निर्वाह कर सकना ।[4]

---

१. संगीतसमयसार—२.३३-४३.

२. संगीतरत्नाकर ३,१३-१८.

३. द्रष्टव्य पातंजल व्याकरणमहाभाष्य पस्पशाह्निक "शब्दं कुरु । मा शब्दं कार्षीः । शब्दकार्यं यं माणवकः । इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते तस्माद्ध्वनिः शब्दः ।"

४. द्रष्टव्य संगीतरत्नाकर पर कल्लिनाथीय तथा सिंहभूपालीय टीकाएं क्रमशः संगीतरत्नाकर भाग दो पृष्ठ–१५३ तथा १५५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) **रागरागाङ्गभाषाङ्गक्रियांगोपांगकोविद :—**

"**राग**" पद को सामान्यतः रंजन करने वाला राग है (रंजनाद्रागः) इस लक्षण से अभिहित किया गया है। बृहद्देशीकार आचार्य-मतङ्ग द्वारा कृत "**राग**" की शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार—

"स्वरों तथा वर्णों (गान क्रिया) आदि से विभूषित जनचित्तरंजक ध्वनिविशेष को राग कहा गया है।" "रञ्जन करने के कारण राग है" यह इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।[1]

आचार्य पार्श्वदेव के अनुसार :—

"सज्जन उसे राग मानते हैं जो स्वरवर्णादि के वैशिष्ट्य अथवा ध्वनिभेद के कारण सज्जनमनोरंजन कर सके।[2] "**रागाङ्ग**" पद मूल-रागों के अवयवैकदेश का वाचक है क्योंकि इनमें ग्रामप्रकरण में उक्त रागों की छायामात्र दृष्टिगोचर होती है।"[3]

"जिसमें समान भाषाओं की छाया का आश्रय कर लिया जाता है वह स्तुतिकारादिकों के द्वारा गेय "**भाषाङ्ग**" कहे जाते हैं।[4]

जिनमें करुण, उत्साह, शोकादि से उद्भूत क्रिया होती है वह क्रियाङ्ग[5] तथा—

रागाङ्ग की छाया का अनुसरण करने वाले "उपाङ्ग" कहे जाते हैं।

वास्तव में उपर्युक्त रागाङ्ग आदि सभी राग ही माने जाते हैं परन्तु इनका वर्गीकरण में भेद है राग पद से ग्रामरागों का ग्रहण किया गया अथवा "मार्ग"[6] संगीत में गाए जाने वाले मूलराग "राग" इस अभिधा से अभिहित हैं जबकि रागाङ्ग आदि, इन रागों पर आश्रित होते हैं परन्तु इनके ही भेद होकर यह मात्र देशी[7] संगीत पद्धति में गाए जाते हैं।[8] इनको "**रंजनाद्रागः**" इस सामान्य परिभाषा के अन्तर्गत संनिहित करके राग माना जाता है।[9] इसी प्रसंग में यह स्पष्ट करना भी समीचीन होगा कि मतंगाचार्य ने उपाङ्गों का अन्तर्भाव रागाङ्गों में ही करके उपाङ्गों का पृथक परिकल्पन नहीं किया है जबकि. संगीतरत्नाकरकार आचार्य शार्ङ्गदेव तथा उनकी परवर्ती परम्परा के आचार्यों ने उपाङ्गों का पृथक् परिकल्पन कर इन्हें रागभेद माना है।[10]

इन सभी उपर्युक्त मार्गी एवं देशी रागों तथा रागभेदों के प्रयोग में निष्णात।

(५) **प्रबन्धगानचतुर :—**

संगीतशास्त्र परम्परा में 'रंजकस्वर-संदर्भ वाला" गीत माना जाता है। इसके (i) गान्धर्व, तथा (ii) **गान** यह दो भेद माने गए हैं। (i) जो अनादिकालिक संप्रदाय-परम्परा से युक्त है, निश्चित रूप में कल्याण करता है वह गन्धर्वों द्वारा प्रयोज्य गीत "गान्धर्व" कहलाता है। इसे ही मार्ग-गीत भी कहते हैं।[11] (ii) जो वाग्गेयकार (संगीत तथा भाषाविद् कवि) के द्वारा लक्षणानुसार जनरंजनार्थ देशी रागादिकों में विरचित रचना होती है उसे "गान" कहा जाता है। इस गान के पुनः (i) निबद्ध-गान, तथा (ii) अनिबद्धगान के नाम से दो भेद किये जाते हैं (i) सामान्यतः भाषाबद्ध सांगीतिक रचना को निबद्धगान, तथा (ii) बन्धन-हीन को अनिबद्धगान अथवा आलप्ति भी कहा जाता है। निबद्धगान के तीन नाम कहे जाते हैं (i) प्रबन्ध (ii) वस्तु, तथा (iii) रूपक। इनमें प्रबन्ध का लक्षण सर्वतः स्पष्ट रूप में संगीतसमयसार में कहा गया है। तदनुसार—

चतुर्विध धातुओं तथा षड्विध अंगों से बांधा जाने के कारण विद्वानों ने इसे प्रबन्ध कहा है। इन चार धातुओं के नाम हैं— (१) उद्ग्राह, (२) मेलापक, (३) ध्रुव, (४) आभोग, तथा छह अंगों के नाम हैं, (१) स्वर, (२) पद, (३) विरुद, (४) पाट (पाठ) (५) तेनक, (६) ताल।

१. बृहद्देशी २८१ तथा २८३.
२. संगीतसमयसार १.५८.
३. संगीतरत्नाकर भाग दो पृष्ठ १५ पर उद्धृत यह पद्य उपलब्ध बृहद्देशी में अनुपलब्ध हैं। तुलनीय संगीतसमयसार ४. १-३.
४. वही,
५. वही
६. रागविबोध—१.६, आड्यारसंस्करण १९४५.
७. वही १.७.
८. संगीतरत्नाकर (भाग दो) पृष्ठ १५; पृष्ठ १५५ पर उद्धृत संगीत सुधाकर टीका भी द्रष्टव्य है।
९. वही पृष्ठ १५।
१०. वही भाग दो पृष्ठ १५ पर कल्लिनाथी टीका।
११. वही प्रबन्धाध्याय, २ पर कल्लिनाथी टीका।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन सब से युक्त प्रबन्ध कहीं-कहीं मेलापक तथा आभोग से रहित भी दृष्टिगोचर होता है। इस प्रबन्ध की पांच जातियां होती हैं जिनके नाम हैं (१) मेदिनी (२) आनन्दिनी (३) दीपनी (४) भावनी, तथा (५) तारावली। वह प्रबन्ध (१) अनिर्युक्त, एवं (२) निर्युक्त इन दो भेदों वाला माना जाता है। (१) छन्द ताल आदि के नियमों से विहीन प्रबन्ध अनिर्युक्त तथा (२) इनके नियमों में बंधा हुआ प्रबन्ध निर्युक्त कहलाता है। प्रबन्ध के पुनः तीन भेद हैं। (१) सूडस्थ, (२) आलिसंश्रय, एवं (३) विप्रकीर्ण।[1] संक्षप में वर्णित इन प्रबन्धों के गायन में निष्णात।

(६) विविधालप्तितत्त्ववित् :—

विविध आलप्तियों के तत्त्व को जानने वाला। आलप्ति का तात्पर्य है राग का आलपन अर्थात् प्रकटीकरण। इसके मूलतः दो भेद हैं—(१) रागालप्ति, तथा (२) रूपकालप्ति।

(१) "रागालप्ति" के स्वरूप का वर्णन करते हुए शास्त्रकारों का कहना है कि जिसमें "रूपक" नामक प्रबन्ध की अनपेक्षा करते हुए चार "स्वस्थानों" का प्रयोग किया जाय उसे रागालप्ति कहते हैं। इन स्वस्थानों का विवरण देना आवश्यक है।

षड्जादि स्वरों में से जिस किसी स्वर में राग की स्थापना की जाती है उसे स्थायी अथवा अंशस्वर कहते हैं। अंशस्वर से चतुर्थस्वर को "द्वयर्ध" नाम से जाना जाता है तथा स्थायिस्वर से अष्टम स्वर को द्विगुण कहा जाता है। द्वयर्ध तथा द्विगुणस्वरों के मध्यवर्ती स्वर अर्धस्थित संज्ञक होते हैं जब स्थायी अथवा अंशस्वर से प्रारम्भ करके द्वयर्धस्वर से नीचे ही मुखचालन करके राग का प्रकटन किया जाय तो प्रथमस्वरस्थान कहा जाता है। द्वयर्धस्वर पर्यन्त मुखचालन से राग प्रकटन के पश्चात् स्थायी पर न्यास (आलपन-समाप्ति) द्वितीयस्वरस्थान कहलाता है। द्वयर्ध तथा द्विगुण स्वरों के मध्यस्थित "अर्धस्थित" नामक स्वरों में आलपन के पश्चात् स्थायी पर न्यास से तृतीयस्वरस्थान कहलाता है, इसमें द्विगुण स्वर का स्पर्श नहीं किया जाता।

द्विगुण स्वर सहित "अर्धस्थित" स्वरों में मुखचालन द्वारा राग-प्रकटन करके स्थायी स्वर पर न्यास कर देना चतुर्थ-स्वरस्थान कहलाता है। इस प्रक्रिया का पालन करते समय यह ध्येय होता है कि छोटे-छोटे रागावयव रूपी स्थायों[2] द्वारा बहुविधचातुर्य से अंशस्वर की मुख्यता से युक्त करके राग की स्थापना की जाय।

(२) रूपकालप्ति—रूपक प्रबन्ध का ही अपर नाम है। रूपक में विद्यमान राग तथा ताल के अन्तर्गत की गई आलप्ति को रूपकालप्ति कहा जाता है। इसके (१) प्रतिग्रहणिका, तथा (२) भंजनी यह दो भेद हैं। भंजनी के पुनः दो भेद हैं—(i) स्थायभंजनी, एवं (ii) रूपकभंजनी। इन सभी प्रकार की आलप्तियों में यह बात ध्यान रखने योग्य होती है कि इनको वर्ण, अलंकार, स्थाय, गमक आदि विविध भङ्गिमाओं से चित्रित करके प्रयुक्त करना चाहिये।[3] ऐसा करने वाला ही अच्छा गायक माना जाता है।

(७) सर्वस्थानोत्थगमकेष्वनायासलसद्गति :—

"गमक" पद से स्वर के विशिष्ट ढंग से कम्पन का ग्रहण किया जाता है। यह श्रोतृचित्त को सुख देने वाला माना गया है। उसके पन्द्रह भेद हैं—(१) तिरिप, (२) स्फुरित, (३) कम्पित, (४) लीन, (५) आन्दोलित, (६) वलि, (७) त्रिभिन्न,(८) कुरुल (९) आहत, (१०) उल्लासित, (११) प्लावित, (१२) हुंफित, (१३)मुद्रित,(१४) नामित, तथा(१५) मिश्रित, यह मुख्य भेद हैं। इनमें से मिश्रित के बहुत से भेद संभव है।[4] संक्षेप में यह कहा जाना उचित होगा कि वह गायक जो अपने गायन में सर्वस्थानों अर्थात् मन्द्रमध्यतारसप्तकरूपी स्वरस्थानों से उद्भूत गमकों में बिना प्रयत्न के गति कर सकता है वह गुणी गायक है।

(८) आयत्तकण्ठ-वश्यकण्ठ :—

जो गायक अपने कण्ठ से जब जैसी चाहे वैसी ही गायन-विद्या का प्रयोग कर सके, कल्लिनाथ के अनुसार स्वाधीनध्वनि।[5]

---

१. संगीतरत्नाकर प्रबन्धाध्याय १-२३ तथा इन पर कल्लिनाथ तथा सिंहभूपाल की टीकाएं।
२. वही, प्रकीर्णकाध्याय ९७.
३. वहीं—१८९-२०२.
४. वही, ८७-८९.
५. संगीतरत्नाकर भाग दो पृष्ठ-१५४.]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(९) **तालज्ञ** : —

ताल का सम्बन्ध लय से है। इसमें निपुणता गायन के सर्वप्रमुख गुणों में से अन्यतम है। याज्ञवल्क्य का कहना है कि वीणावादन तत्त्वज्ञ, श्रुतिजातिविशारद तथा ताल का ज्ञाता बिना प्रयास के ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

"वीणावादनतत्त्वज्ञः, श्रुतिज्ञातिविशारदः
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं प्रयच्छति।"

अतः ताल अर्थात् लय में निपुणता गायक का गुण माना गया है।

(१०) **सावधान** :—

सावधानता को भी गायक का गुण माना गया है। इसका भाव स्पष्ट करते हुए सिंहभूपाल कहते हैं कि सावधानता का तात्पर्य है श्रुतिनिश्चय का ज्ञाता।[1] भावार्थ यह है कि किस-किस राग में किस-किस श्रुति का प्रयोग होगा यह निश्चित जानने वाला ही "सावधानः" पद से अभिहित होगा।

(११) **जितश्रम** :—

अनेक प्रकार के प्रबन्धों का गायन करने के पश्चात् भी जिसके कण्ठ में से थकावट का चिह्न प्रकट न हो वह गुणी गायक "**जितश्रमः**" नाम से अभिहित है।

(१२) **शुद्धच्छायालगाभिज्ञ** :—

साधारणतया वह राग जिन पर किसी अन्य राग का प्रभाव नहीं होता शुद्ध तथा जिनपर अन्य राग का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है वह छायालग के नाम से जाने जाते हैं। परन्तु यहाँ सिंहभूपाल के अनुसार[2] शुद्ध का तात्पर्य मार्गीसूड तथा छायालग का तात्पर्य सालग सूड से है। सूड प्रबन्ध का ही एक भेद माना गया है जो एला, करण, ढेङ्की, वर्तनी, झोम्बड, लम्भ, रासक एकताली आदि अंगों से युक्त होता है[3] जिनको विस्तारभय से यहाँ कहना उचित न होगा। लेकिन यदि शुद्ध को अन्य राग की छाया से रहित एवं छायालग को अन्य राग की छाया से युक्त यह साधारण अर्थ मान लिया जाय तो भी सिंहभूपाल के द्वारा उक्त मत उचित है क्योंकि मार्गी संगीत ही पूर्णतः शुद्धस्वरूप में उपलब्ध होता है एवं रागाङ्ग आदि के रूप में उपलब्ध देशी संगीत, मूलसंगीत (मार्गी) की छायाओं को अन्तर्निहित किए हुए जनमनरंजनकारकत्व की सामान्यता से रागपदभाजक होता है। इन दोनों के विषय को सम्यक् प्रकार से जानने वाला शुद्धच्छायालगाभिज्ञ कहलाता है।

(१३) **सर्वकाकुविशेषवित्** :—

"काकु" भारतीय शास्त्रों विशेषतः साहित्यशास्त्र में अति प्रसिद्ध तकनीकी पद है जिसका वहाँ अर्थ होता "भिन्नकण्ठ-ध्वनित्व"। अर्थात् कण्ठ के द्वारा इस प्रकार से शब्द का व्यवहार करना जिससे वह अभिधेयार्थ से अन्य किसी विशिष्ट अर्थ का बोध कराने लगे। इसे ध्वनिविकार भी कहा जाता है। संगीतशास्त्र में इसे इसी अर्थ में जाना जाता है।[4] काकु का अन्तर्भाव संगीतशास्त्र में स्थायों में किया जाता है। इसे छाया[5] भी कहा जाता है। इसके छह भेद कहे गए हैं। वे हैं —(१) स्वरकाकु,(२) रागकाकु, (३) रागान्य-काकु, (४) देशकाकु, (५) क्षेत्रकाकु, (६) यन्त्रकाकु। सामान्यतया संक्षेप में विचार करने पर यह नाद का वह गुण है जिसके द्वारा व्यक्तियों तथा यन्त्रों आदि की ध्वनि को सुनकर हम यह ज्ञात कर लेते हैं कि यह "राग है अथवा यह सितार बज रही है, आदि इसी के द्वारा हम तत्तद्देशीय उच्चारणों का भी अनुमान कर लेते हैं।

(१४) **अनेकस्थायसंचार** :—

राग के अवयवों को "स्थाय"[6] कहा जाता है। इनके प्रयोग में भी न्यासादि पर विश्रमण से युक्तता तथा अंशी स्वर आदि सहित कुछ स्वरों का समूहत्व ध्यातव्य होता है। इनके संकीर्ण तथा असंकीर्ण कोटिपरक छयानवे भेद माने गए हैं। इनमें से अनेकों में संच-रण कर सकने वाला, गुणी गायनाचार्य माना जाता है।

---

१. संगीतरत्नाकर भाग दो पृष्ठ १५५.
२. वही।
३. संगीतरत्नाकर प्रबन्धाध्याय २३ का उत्तरार्ध २४ का पूर्वार्ध।
४. वही, प्रकीर्णकाध्याय कल्लिनाथी टीका, पृष्ठ १७५.
५. वही, १२० के उत्तरार्ध से १२६ के पूर्वार्ध तक।
६. वही, प्रकीर्णकाध्याय. ९७-११२ पूर्वार्ध तक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१५) सर्वदोषविवर्जितः :—

प्रायः शास्त्रकारों ने गायन में पच्चीस दोष माने हैं वे संदष्ट उद्धुष्ट आदि दोष आगे वर्णित किए जायेंगे उन सर्वविध दोषों से रहित।

(१६) क्रियापर :—

कल्लिनाथ एवं सिंहभूपाल[1] इन दोनों के अनुसार क्रियापर से तात्पर्य अभ्यासलग्न गायक से है जो सदा अभ्यास करने में त्यक्तालस्य हो परंतु आचार्य सिंहभूपाल ने इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए संगीतसमयसार का भी उद्धरण[2] देते हुए कहा है कि :—

"मार्गी तथा देशी द्विविध संगीत का शास्त्रानुसार निर्दोष गायन करने वाला क्रियापर है।[3] वास्तव में तो अभ्यास के बिना व्यक्ति संसार में साधारण पठन-पाठन में भी क्रमशः जडत्व को प्राप्त करता जाता है फिर संगीत जैसी नादब्रह्मात्मक विधा का तो कहना ही क्या है। इसमें तो अभ्यास ही सर्वप्रकारक-पाण्डित्य अथवा चातुर्य का मूल है, परन्तु **कल्लिनाथ** तथा **संगीतसमयसार** इन दोनों के द्वारा प्रस्तुत "क्रियापर" पद की व्याख्या में मूलभूत अन्तर है। यदि शब्द से उद्भूत व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का ग्रहण किया जाय तो "क्रियायां परः" इस विग्रह से क्रिया अर्थात् गायनक्रिया में सदा लीन यह **कल्लिनाथाभिमत** अर्थ ही अधिक संगत प्रतीत होगा। अस्तु क्रियापर होना सुगायन माना जाता है इसमें कोई विवाद नहीं है।

(१७) युक्तलय :—

संगीतशास्त्र में ताल को कालक्रियामान अर्थात् काल या समय की गति का मापन कहा जाता है (१) यह मनगत, तथा (२) हस्तगत भेदों से द्विविध है।[4] काल का मापन करने के लिये प्रत्यक्षतः हस्तगत क्रिया का आलम्बन मृदङ्गादि के द्वारा अथवा मात्र हस्त से ही किया जाता है। हस्त के आघातों में जो अन्तराल बन जाता है उसे लय कहते हैं क्योंकि वह दो आघातों के अन्दर लीन हो जाता है[5] इसके तीन भेद हैं। (१) द्रुत, (२) मध्य, एवं (३) विलम्बित। "युक्तलय" पद के शब्दार्थ का विवेचन करने पर जो लय में युक्त अर्थात् जुटा हुआ है अथवा लय से युक्त है यह सामान्यार्थ प्राप्त होता है जिसके अनुसार सर्वविध तालगति में निष्णात गायक युक्तलय माना जायगा। परन्तु सिंहभूपाल[6] के अनुसार "गायक की प्रसिद्धि से रंजनकारी गायन" युक्तलयता का तात्पर्य है। विचार करने पर इससे उपर्युक्त शाब्दिक अर्थ की संगति इस प्रकार बैठती है कि जो गायक विभिन्न कालगतियों अर्थात् लयों (दोगुण तिगुन आदि) का प्रदर्शन अत्यंत निष्णातता से एवं प्रसिद्ध्यनुसार करे वह "युक्तलय" गुणान्वित गायक कहा जायेगा।

(१८) सुघट :—

जिस भी विधि से गायन में सौन्दर्य आ सके ऐसा प्रयत्न करने वाला सुघट कहलाता है। इसे ही भाषा में "सुघड़" कहते है।[7] कल्लिनाथ के इस मान्य अर्थ के अतिरिक्त संगीतसमयसार का शास्त्रीय पक्ष भी देखना उचित होगा जिसके अनुसार—

वह गायक जो स्वर, वर्ण तथा ताल इन तीनों गीत के अंगों को स्पष्ट रूप से घटित-व्यक्त करता है तथा सुन्दर ध्वनि से युक्त कण्ठ वाला (हृद्यशब्दः) भी होता है।[8] तत्त्वतः इन दोनों मतों में कोई अन्तर नहीं। संगीतसमयसार में सुघटत्व में वांछनीय सुन्दरध्वनि को संगीतरत्नाकर में हृद्यशब्दत्व के द्वारा पहले ही कहा जा चुका है। मूल बात तो गायन के सुन्दर रूप से संघटन की है जो दोनों मतों में समान है।

(१९) धारणान्वित :—

धारणा शक्ति का संगीतशास्त्रीय अर्थ संगीतसमयसारकृत् आचार्य पार्श्वदेव ने निम्न प्रकार से दिया है कि—

---

१. संगीतरत्नाकर भाग दो पृष्ठ १५४ तथा १५५.
२. वही, पृष्ठ १५५.
३. तुलनीय संगीतसमयसार, ९.५६ उत्त०, ५७ पूर्वार्ध।
४. संगीतसमयसार, ८.२.
५. वही, ८. १७.
६. संगीतरत्नाकर भाग दो, पृष्ठ १५५.
७. वही, पृष्ठ १५४, कल्लिनाथी टीका।
८. संगीतसमयसार, ९.५९—६०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"अनुतार से परवर्ती स्वरों में एक श्रुतिप्रस्खलन (स्वर का कम रह जाना) आदि होने पर भी जिस गायक की ध्वनि की गाढ़ता-सघनता कम नहीं होती है उसे धारणा शक्ति के नाम से संगीतशास्त्रियों ने स्वीकार किया है।"[1]

सामान्य रूप में यदि इसे यूं कहा जाय कि जिस गायक की "अनुतार" गायन में भी ध्वनि कमजोर न पड़े वह धारणान्वित गायक होता है। चाहे इस गायन में राग का अभीष्ट स्वर न लग रहा हो।

(२०) **स्फूर्जन्निर्जवन :—**

"निर्जवन" पद की व्याख्या दो प्रकार से प्राप्त होती है। सामान्यतः जो अर्थ सर्वमान्य है वह है "अप्रतिहतगतित्व"।[2] इसका एक अपर स्वरूप संगीतसमयसार ने दिया है वह है "श्वास पर विजय प्राप्त करके गाना निर्जवन कहलाता है।"[3] ये दोनों व्याख्याएं गायकनिष्ठ हैं। शास्त्रनिष्ठ अथवा प्रबन्धनिष्ठ व्याख्या के अनुसार "वे स्थाय जिनमें स्वर क्रमशः अतिसूक्ष्मस्वरूप को प्राप्त करता जाता है, सरलता, कोमलता तथा रक्तिमत्व गुणों से युक्त होता है, निर्जवनान्वित स्थाय कहे जाते हैं।"[4]

तत्त्वदृष्ट्या विचार करने पर यह भी गायकनिष्ठ वस्तु हो जाती है—"जो गायक स्थायों का प्रयोग करते समय स्वर में सरलता, कोमलता तथा रक्तिमत्व को बनाए रखकर स्वर को क्रमशः अतिसूक्ष्मता की ओर ले जाता है वह निर्जवनान्वित है और यह कार्य श्वाससाध्य है अतः इस कार्य के लिये अप्रतिहतगतित्व एवं जितश्वासत्व आवश्यक हैं।

(२१) **हारि :—**

जिसका गायन मन को हरण कर लेने वाला हो।

(२२) **रहःकृत् :—**

इस पद की व्याख्या में संगीतरत्नाकर के दोनों टीकाकारों का मत भिन्न है। सिंहभूपाल के अनुसार "रहःकृत्" का तात्पर्य वेग से गायन करना है।[5] जो वास्तव में "निर्जवन" के वर्णन के प्रसंग में कल्लिनाथ द्वारा स्वीकृत अर्थ है। कल्लिनाथ के अनुसार "रहः" पद का तात्पर्य श्रोतृजनमोहन[6] है अतः श्रोतृजनमोहनकारक गायक को रहःकृत् कहना चाहिये। वास्तव में यह अर्थ भी मूल में उक्त "हारि" पद के द्वारा प्रकट हो चुका है। या तो कल्लिनाथ ने हारि को पृथक् न मानते हुए "हारिरहःकृत्" यह एक पद मानकर इसका तात्पर्यार्थ श्रोतृजनमोहन ले लिया है अन्यथा "हारि" का भी अर्थ मनोहारि करना तथा पुनः रहःकृत् से भी श्रोतृजनमोहन अर्थ प्रकट करना संभवतः ग्रन्थकार आचार्य शार्ङ्गदेव तथा अन्य आचार्यों को भी अभीष्ट न होगा क्योंकि यह मात्र पिष्टपेषण ही है। इसी प्रकार "निर्जवन" तथा "रहःकृत्" इन दोनों पदों का अर्थ वेग से गायन करना भी पिष्टपेषण ही है। इन सभी प्रकार के अर्थों को एक तरफ रखकर यदि हम एक अन्य दृष्टि से विचार करें तो पाते हैं कि रहस् का तात्पर्य मैथुन अथवा रति होता है।[7] अतः जिस प्रकार कोई मानव रत्यर्थ उपस्थित स्त्री के साथ स्नेह से व्यवहार करता है उसी प्रकार गायनविधा के प्रकटन के समय स्वरों, वर्णों आदि के साथ स्नेहिल व्यवहार करने वाला "रहःकृत्" हो सकता है। भावार्थ यह है कि गायक को गायन के समय सान्द्रध्वनि का प्रयोग करना चाहिये।

(२३) **भजनोद्धुर :—**

सुशारीर ध्वनि के कारण राग की सुन्दर समभिव्यक्ति को भजन कहा जाता है।[8] इसमें उत्कट अर्थात् प्रचंड प्रवीणता वाला। इसी भजन का उपलब्ध संगीतसमयसार में **भजवणा** के नाम से उल्लेख किया गया है।[9]

(२४) **सुसंप्रदाय :—**

जिसका सुप्रतिष्ठित संप्रदाय से संबंध हो। यही संप्रदाय परम्परा संभवतः परवर्ती एवं आधुनिक काल में घरानों के नाम से अभिहित की गई है।

---

१. संगीतसमयसार, ३.९२ (धरणि के नाम से उक्त है)
२. संगीतरत्नाकर भाग दो, पृष्ठ १५४ कल्लिनाथी टीका।
३. संगीतसमयसार, ३.८८ (निजवण के नाम से उक्त है)
४. संगीतरत्नाकर प्रकीर्णकाध्याय, १४५-४६.
५. संगीतरत्नाकार भाग दो, पृष्ठ १५६ सिंहभूपाल की टीका।
६. वही, पृष्ठ १५५, कल्लिनाथी टीका.
७. इंग्लिश हिन्दी डिक्सनरी द्वारा गोडे और कर्वे।
८. संगीतरत्नाकर भाग २. सिंहभपाल टीका, पृष्ठ १५६.
९. संगीतसमयसार, ३.८८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन गुणों वाले गायकों को श्रेष्ठ, इनमें से कुछ गुणों से हीन परन्तु दोषरहित गायकों को मध्यम तथा एक भी दोष से युक्त गायक चाहे सर्वगुणसम्पन्न क्यों न हो उसे अधम गायक माना जाता है।[1]

गायक के मूलतः पांच भेद हैं।[2] (१) शिक्षाकार, (२) अनुकार, (३) रसिक, (४) रंजक तथा (५) भावक। इनका विवरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(१) **शिक्षाकार**—बिना किसी न्यूनता के सर्वविध गायन विधाओं को सपदि शिक्षित कर सकने वाला[3]। इसी को इस प्रकार भी विवृत किया जा सकता है कि जो—

"शुद्ध अर्थात् मार्गी तथा सालग अर्थात् देशी सूडों को शीघ्रता से विषम एवं प्रांजल गीत को सिखा सकता है"।[4]

(२) **अनुकार**—दूसरे गायकों की गान भङ्गिमाओं का अनुकरण करने वाला।

(३) **रसिक**—गायन समय में गीत के रस से आविष्ट होकर रसपूर्ण गायन करने वाला[5]। ऐसे समय में वह आनन्दाश्रुसंकीर्ण तथा पुलकित भी हो सकता है।[6]

(४) **रंजक**—जनमनरंजन करने वाला।[7] संगीतसमयसार में इसका सुविस्तृत वर्णन यों किया गया है कि जो—

"मनभावन गीत के द्वारा श्रोता का मनोभाव समझकर गीत में नाट्य के अंश को भी सम्मिलित करके उसे अधिकतर रंजक बना देता है वास्तव में उसे रंजक कहते हैं।[8]

भावक

श्रोता के अभिप्राय को जानकर नीरस को सरस तथा भावहीन को भावान्वित करके गाने वाला भावक कहलाता है।[9]

द्रष्टव्य है कि इस सम्पूर्ण गायक भेद प्रसंग में कल्लिनाथ तथा सिंहभूपाल इन दोनों की टीका उपलब्ध नहीं है। सिंहभूपाल इस प्रकरण में मात्र संगीतसमयसार को उद्धृत करके व्याख्या करते हैं।[10]

गायन की क्षमता के अनुसार गायक को पुनः तीन भेदों में बांटा गया है : (१) एकलगायक, (२) यमलगायक, (३) वृन्दगायक। इनका विवरण[11] नामानुसारी है—

(१) **एकलगायक**—वह गायक जो एकाकी गायन में सक्षम है, इसी को आंग्लभाषा में Solo Singer कहते हैं।

(२) **यमल**—जो दो गायक मिल कर गा सकते हों उन्हें यमलगायक कहते हैं। आंग्लभाषा में आजकल इस विधा को Duet कहा जाता है।

(३) **वृन्दगायक**—जो गायक समूह के साथ गायन में सक्षम हो। गायन की इस विधा को आंग्लभाषा में Choral Singing कहा जाता है।

गायन में सृष्टि के आरम्भ से ही स्त्रियां भी प्रमुखतः भाग लेती रही हैं। अतः गायकों के उक्त वर्णित गुण अथवा वर्ण्य दोष गायिकाओं में भी यथावत् समझे जाने चाहियें परन्तु गुणों की संख्या करने पर जो गुण उनमें अधिक होने चाहियें वे हैं—

---

१. संगीतरत्नाकर प्रकीर्णकाध्याय, १८-१९.
२. वही, १९-२०
३. वही, २०.
४. संगीतसमयसार, ६. ६१-६२.
५. संगीतरत्नाकार, प्रकीर्णकाध्याय-२१.
६. संगीतसमयसार, ६. ६२-६३.
७. संगीतरत्नाकर, ३.२१.
८. संगीतसमयसार, ६. ६४-६५.
९. वही, ६. ६३-६४.
१०. संगीतरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ १५६.
११. वही, प्रकीर्णकाध्याय-२२, २३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) रूपस्विता, (२) यौवन, (३) माधुर्यधुरीणता, (४) चतुराई, (५) चतुरप्रियात्व, ।[1] तभी गायिकाएं उत्तम कही जा सकती हैं।

इन ग्राह्य गुणों की पूर्वाचार्यपरम्परानुसार परिगणना के पश्चात् आचार्य पार्श्वदेव के द्वारा स्वीकृत गुणगणना का विवेचन करने पर हम यह पाते हैं कि प्राय: इन्हीं, कुछ इनसे अतिरिक्त तथा कुछ इन्हीं में से अन्य नामों से गुण आचार्य पार्श्वदेव ने स्वीकार किये हैं। उदाहरणार्थ—

क्रियापरत्व, सुघटत्व, भावकत्व, शिक्षाकारत्व, रसिकत्व, रंजकत्व, ग्रहमोक्षदक्षता, स्थानत्रयप्रयोगदक्षता, विविधालप्ति-चातुर्य, तालज्ञता, गम्भीरमधुरध्वनित्व, रागरागाङ्गव्यवहारकौशल, जितश्रमत्व, वश्यकण्ठत्व, अवधारणाशक्तिमत्व, सदुपाध्यायप्राप्त-शिक्षात्व (सुसंप्रदायत्व) आदि कुछ गुण दोनों ओर समान रूप में प्राप्त हैं, जबकि निम्न विशेषताएं संगीतसमयसार में अधिक गिनाई गई हैं वे हैं—सुरेखता, क्रमस्थत्व, गतिस्थत्व, सुसंचत्व, पररीतिज्ञत्व, रीतालत्व (विरालत्व), सुगन्धत्व, अनियमत्व, चौपटत्व, विबन्धत्व, मिश्रत्व। इन अतिरिक्त विशेषताओं का वर्णन करना अत्यन्त आवश्यक है :—

सुरेखता—संभवत: विविधस्वरसमूहों (स्थायों) के प्रयोग के द्वारा श्रोतृचित्त में विभिन्न प्रकार के रेखाचित्र उत्पन्न कर देना अथवा सुन्दर रेखा अर्थात् शरीर वाला होना अर्थात् नेत्रानन्दकारक शरीर वाला होना ही सुरेखता से अभिप्रेत है क्योंकि आचार्य पार्श्वदेव ने इसका मात्र परिगणन ही किया है, विवरण नहीं दिया है।

क्रमस्थत्व—उत्तमोत्तमसूड आदि सर्वविधसूडों को क्रमश: प्रतिरूपकपर्यन्त गाने की क्षमता होना। इस लेख में प्रबन्ध का वर्णन करते हुए उसके तीन भेद कहे गए हैं—सूडस्थ, आलिसंश्रय, विप्रकीर्ण। सूड का लक्षण निम्न प्रकार से किया जाता है—

एला, करण, ढेङ्की, वर्तनी, झोम्बड, लम्भ, रासक, एकताली; इन आठ प्रकार के गायन प्रबंधों को सूड के नाम से अभिहित किया जाता है।[2]

अन्य आचार्यों द्वारा अनिर्गदित एक विशिष्ट वर्गीकरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य पार्श्वदेव ने सूड के पांच भेद कहे हैं।[3] (१) अतिजघन्य, (२) जघन्य, (३) मध्यम, (४) उत्तम तथा (५) अत्युत्तम अथवा उत्तमोत्तम। विस्तारभय से इन सबका संख्यापन मात्र किया जा रहा है। इन सभी प्रकार के सूडस्थ प्रबंधों को रूपक (प्रबंध के एक भेद) तक गाने की क्षमता रखने वाला क्रमस्थ कहलाता है।[4]

गतिस्थ—कण्ठ के वश में होने के कारण जो गायक सर्वाधिक गमकों को पृथक्-पृथक् लक्षणानुसार प्रदर्शित कर सके।[5]

सुसंच—प्रशस्य-शारीर ध्वनि का स्वामी होने के कारण तत्तद्रागों की आलप्ति करने में समर्थ जो गायक अनायास ही गीत को जान लेता है वह सुसंच कहलाता है।[6]

पररीतिज्ञ—गीत तथा शरीर ध्वनि की चेष्टाओं का आलप्ति में अनुकरण करने वाला एवं गीत सम्बन्धी उत्तम गुणों वाला पररीतिज्ञ कहलाता है।[7]

---

१. संगीतरत्नाकर प्रकीर्णकाध्याय-२४.
२. वही, प्रबन्धाध्याय, २३-२४.
३. संगीतसमयसार, ५. ६०-६२.
४. वही, ६. ५७, ५८.
५. वही, ६. ५८, ५९.
६. वही, ६. ६०-६१.
७. वही, ६. ६५-६६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रीताल (वितालं)—जिसके ध्वनि एवं शारीर में नानादेशीयरीतियां (स्वरव्यवहारप्रकार) प्राप्त होते हैं वह रीताल कहा जाता है।[1]

सुगन्ध—विषम तथा प्रांजल प्रकार के गान प्रबंधों का चिरकाल तक गाते हुए भी जिसके कंठ का माधुर्य क्षीण नहीं होता उसे सुगन्ध कहते हैं।[2] यह गुणप्रकार वास्तव में सुशारीरध्वनि से संयुक्त व्यक्ति में प्रबन्धगाननिष्णातता, वश्यकण्ठत्व, हृद्यशब्दत्व आदि गुणों की समष्टिरूप में उपस्थिति की कल्पना है—ऐसा मानना उचित होगा।

अनियम—यद्यपि आचार्य पार्श्वदेव ने अनियम का परिगणन तो किया है परन्तु उपलब्ध ग्रन्थ में इसका विवरण नहीं दिया गया है। फिर भी सभी गुणों का तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर **अनियम** से यह समझा जा सकता है कि जो गायक किसी निश्चित गायन प्रकार (प्रबंध, जाति, आलप्ति आदि) के भीतर बंधा न रहे तथा समय एवं वातावरण के अनुसार गायनरस आदि का विचार करके राग एवं गायन प्रकार का चयन करे वह **अनियम** से अभिहित किया जाना चाहिये (स्वमत)।

चौपट—शुद्ध एवं छायालग श्रेणी के रागों में आलप्तिपूर्वक गीत गा सकने वाला।[3]

निबन्ध—ध्वनि में (गायनकाल में) विभिन्न गतिमार्गों का चिन्तन करने वाला।[4] इससे निश्चित रूप से भावार्थ यह है कि जो गायन समय में विभिन्न लयों का प्रदर्शन करता है तथा विभिन्न छन्द जिसके गायन से कट-कट कर उभर रहे हों (आधुनिक काल में यही शब्द संगीतज्ञों तथा रसिकों में प्रयुक्त किया जाता है)।

मिश्र—बिना किसी दोष का अवकाश दिये जो एक राग में अन्य राग की छाया को मिश्रित कर सकता है वह अत्यन्त चातुर्ययुक्त गायक मिश्र के नाम से जाना जाता है।[5] यहां यह ध्यातव्य है दोषवर्णन प्रकरण में सभी आचार्यों में मिश्रक नाम से अधम गायक की कल्पना की है। मिश्रत्व नामक गुण एवं मिश्रकत्व नामक दोष होता है, यह यहां स्पष्ट करना आवश्यक है। दोनों की प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं है। अपितु मिश्रण की कोटि का अन्तर है। यदि मिश्रण इतना अधिक कर दिया जाय कि मूलराग की अपेक्षा मिश्रित, राग प्रधान हो जाय तो वह गर्हणीय-दोष है परन्तु यदि राग में रागान्तर की छायामात्र चातुर्य से मिश्रित करके रसिक, श्रोतृवृन्द को चमत्कृत कर दिया जाय तो वह मिश्रण एक प्रशस्य गुण होगा।

स्त्रियों में इन सभी गुणों अथवा वर्ण्य-दोषों की यथावत् कल्पना करके आचार्य पार्श्वदेव उनमें कुछ अतिरिक्त विशेषताओं को अत्यन्त मुखरित लेखनी से निरूपित करते हुए कहते हैं कि,

"पुरुषों एवं स्त्रियों की प्रधानता का निर्णय करते समय यह निश्चित जान लेना चाहिये कि गायन में सदा ही स्त्रियों का प्राधान्य है तथा पुरुष तो अपवादरूपेण स्त्रियों से अधिक प्रशस्य हो सकते हैं।[6] स्त्रियों की चेष्टाएं प्रीतिकर होती हैं, उनकी गानपाठादि क्रियाओं में विस्वरता नहीं होती तथा अङ्गविचेष्टित एवं कंठमाधुर्य भी स्त्रियों में ही स्वभावतः विद्यमान रहता है जबकि पुरुषों में सर्वविधसौष्ठव व्यायाम एवं अभ्यास के नित्यकरण तथा नैरन्तर्य से अर्जित होता है इसलिये स्त्रियों में पुरुषाश्रित प्रयोग बाहुल्य से करने चाहियें।[7] इसी प्रसंग में आदिभरत के मत का भी उल्लेख किया गया है। जिसके अनुसार विशेष बात यह है कि यदि स्त्रियों में वाद्य अथवा पाठ गुण तथा पुरुषों में गान-मधुरत्व दिखाई दें तो यह समझना चाहिये कि यह उनका अलङ्कारभूत गुण है न कि स्वाभाविक।[8]

प्रायः देखा गया है कि देवमन्दिर, पार्थिव, सेनापति तथा मुख्य-मुख्य अन्य पुरुषों के भवनों में पुरुषविहित एवं स्त्री संचालित प्रयोग होते हैं।[9]

---

१. संगीतसमयसार, ६. ७०-७१.
२. वही, ६.६६-६७.
३. वही, ६.६६-७०.
४. वही, ६.७१-७२.
५. वही, ६. ७३.
६. वही, ६. १०६-१०७.
७. वही, ६. ११२-११५.
८. वही, ६. १०८.
९. वही, ६. १११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस सम्पूर्ण उपर्युक्त विवरण से उत्तम गायक के ग्राह्य गुणों की परिगणना के अनन्तर वर्ज्य-दोषों का भी विवरण आवश्यक है अतः सभी आचार्यों ने अपने मत इस विषय पर प्रस्तुत किये हैं। इन आचार्यों में गुणों की भांति दोषों की संख्या पर भी मतभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। एक ओर तो संगीतरत्नाकर की परम्परा वाले आचार्य दोषों की संख्या निम्न प्रकार से पच्चीस मानते हैं :[1]

(१) संदष्ट, (२) उद्धुष्ट, (३) सूत्कारि, (४) भीत, (५) शङ्कित, (६) कम्पित, (७) कराली, (८) विकल, (९) काकी, (१०) वताल, (११) करभ, (१२) उद्भट, (१३) झोम्बक, (१४) तुम्बकी, (१५) वक्री, (१६) प्रसारी, (१७) निमीलक, (१८) विरस, (१९) अपस्वर, (२०) अव्यक्त, (२१) स्थानभ्रष्ट, (२२) अव्यवस्थित, (२३) मिश्रक, (२४) अनवधान, (२५) सानुनासिक।

दूसरी ओर आचार्य पार्श्वदेव ने उपर्युक्त में से,

(१) विकल, (२) करभ, (३) तुम्बकी, (४) विरस, (५) अपस्वर, (६) अव्यक्त, तथा (७) स्थानभ्रष्ट—इन सात दोषों का नामांकन नहीं किया है, अन्य अठारह को भी यथावत् न मानते हुए उनके विवरण में कहीं-कहीं अन्तर करते हुए उष्ट्रकी नामक एक नवीन दोष का उल्लेख किया है। संगीतरत्नाकरकार आदि ने जिस दोष को **तुम्बकी** के नाम से माना है उसी विवरण वाले दोष को संगीतसमयसारकृत ने **झोम्बक** के नाम से स्वीकार किया है। संगीतरत्नाकरकार द्वारा स्वीकृत **उद्भट** नामक दोष को आचार्य पार्श्वदेव ने **उद्घड** नाम से विवृत किया है।

इस प्रकार आचार्य पार्श्वदेव ने दोषों की संख्या मात्र उन्नीस मानी है।[2] सम्प्रति उपर्युक्त सर्वविध दोषों का विवरण प्रस्तुत है—

१. **संदष्ट**—दांत पीस कर गाने वाला,

२. **उद्धुष्ट**—नीरस उद्घोष करने वाला,

नोट :—संगीतरत्नाकर के "आड्यार संस्करण" में "विसरोद्घोषः" पाठ दिया गया है जो उचित प्रतीत नहीं होता। तुलना किये जाने पर "मद्रास सरकार ओरियण्टल सीरीज" से प्रकाशित संगीतदर्पणकार के द्वारा दिये गए विवरण से ज्ञात होता है कि वास्तव में "विरसोद्घोषः" पाठ समुचित है तथा प्रस्तुत प्रकरण में संगत भी है।

३. **सूत्कारि**—गायन समय में सू-सू शब्द करने वाला,

४. **भीत**—भय युक्त होकर गाने वाला,

५. **शंकित**—बहुत शीघ्रता से गाने वाला,

६. **कम्पित**—स्वभावतः ही कण्ठ, मुख एवं शब्दों को कम्पन कराते हुए गाने वाला। यहाँ विशेष बात जान लेनी चाहिये कि कम्पन गमक को भी कहते हैं परन्तु यह सार्वत्रिक नहीं अपितु स्थानसापेक्ष होनी चाहिये।

७. **कराली**—विकराल रूप में मुख का उद्घाटन करके गायन करने वाला,

८. **विकल**—स्वर की निश्चित श्रुतियों से कम अथवा अधिक श्रुतियों को गाने वाला,

९. **काकी**—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है—कौए के समान रूक्ष गायन करने वाला,

१०. **वताल**—ताल से विच्युत हो जाने वाला=बेताल,

११. **करभ**—कन्धे तथा गर्दन ऊंची करके गाने वाला,

---

१. संगीतरत्नाकर, ३. २५-२७.
तुलनीय संगीतदर्पण, ३२७.

२. संगीत समयसार, ९.७६ (पूर्वार्ध).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. **उद्भट**—आरोही अथवा अवरोही स्वरों में कम्पन होना "वहनी" नामक स्थान का लक्षण है।[१] वहनी का गायन अज की तरह ठोड़ी हिला-हिलाकर करने वाला अधम कोटि का गायक **उद्भट** के नाम से जाना जाता है। इसी को आचार्य पार्श्वदेव ने उद्धड कहा है। उनके अनुसार यह गायक उपहास के योग्य है।[२]

१३. **झोम्बक**—गायन समय में जिसके माथे, मुख एवं ग्रीवा की शिराएं फूल जाएं तथा मुखादि रक्ताभ लाल हो जाएं,

१४. **तुम्बकी**—तुम्बे के समान ग्रीवा फुलाकर गाने वाला। आचार्य पार्श्वदेव ने इसी को झोम्बक के नाम से माना है। उन के अनुसार जिसका गला, नासिका एवं नयन गायन समय में फूल जाएं वह झोम्बक होता है।[३] संगीतशास्त्र के अनुसार प्रत्येक सप्तक स्थान के स्वरों के उद्भावन का स्थान शारीरवीणा में निश्चित है। इस क्रम के अन्यथा हो जाने पर व्यर्थ ही शारीरिक बल का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। शारीरिक बल का अतिप्रयोग जब गायन में होने लग जाता है तब गायक के गले, नासिका, भाल आदि की नस-नाड़ियां फूल जाती हैं जो देखने में अच्छा नहीं लगता। अतः इन्हें दोष माना गया है। आचार्य पार्श्वदेव इन दोनों दोषों को एक में ही समाहित करना चाहते हैं, ऐसा तत्त्वदृष्ट्या विचार करने पर उनकी भावना ज्ञात होती है।

१५. **वक्री**—गले को टेढ़ा करके गाने वाला,

१६. **प्रसारी**—संगीतरत्नाकरकार के अनुसार हाथ-पांव अधिक फैला-फैला कर तथा गीतादि का अत्यधिक प्रसार करके गाने वाला प्रसारी कहलाता है। संगीतदर्पणकार ने मात्र शरीर के प्रसार से प्रसारी दोष का संज्ञापन किया है तथा संगीत-समयसारकार के अनुसार गीत का इतना अधिक प्रसार कर देने वाला कि गेय वस्तु सुन्दर तथा सरस होते हुए भी "सीमांत उपयोगिता" के द्वारा अन्त में श्रोता को उबाने वाली बन जाय "प्रसारी" दोषयुक्त गायक है।[४]

१७. **विनिमीलक**—गायनकाल में नेत्र मूंद लेने वाला,

१८. **विरस**—रसहीन गायन करने वाला। यहां यह स्पष्ट करना अपेक्षित है कि "उद्धुष्ट" नामक दोष में गायक की कण्ठानुध्वनि नीरस होती है जबकि "विरस" नामक दोष में गायक द्वारा प्रस्तूयमान गायन किसी अन्य कारणवश बहुतर श्रोतृवर्ग को नीरस प्रतीत होता है।

१९. **अपस्वर**—राग के प्रयोग में राग में वर्जित विवादी-स्वर जो राग के शत्रु के समान माना जाता है[५] का प्रयोग कर देने वाला,

२०. **अव्यक्त**—गद्गदध्वनि से अव्यक्त वर्णों वाला अर्थात् जिसके शब्दादि समझ न आ सकें,

२१. **स्थानभ्रष्ट**—जो मन्द्र, मध्य तथा तार इन तीनों सप्तकस्थानों का प्रयोग करने में सक्षम न हो,

२२. **अव्यवस्थित**—स्थानकों का अव्यवस्थित प्रयोग करने वाला,

२३. **मिश्रक**—शुद्ध अथवा छायालग रागों का परस्पर अत्यधिक एवं अवांछनीय सीमा तक मिश्रण कर देने वाला,

२४. **निरवधानक**—राग के अवयवभूत स्थायों के प्रयोग में सावधान न रहने वाला,

२५. **सानुनासिक**—गेय वस्तु के गान में नासिका का अत्यधिक साहाय्य लेने वाला।

---

१. संगीतरत्नाकार, ३. ११४-११५.

२. संगीतसमयसार—६. ८५.

३. वही, ६. ८१.

४. वही, ६. ८२.

५. रागविबोध, १. ३८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त क्रम से वर्णित दोषों के अतिरिक्त आचार्य पार्श्वदेव द्वारा पृथक् रूप में उद्भावित "**उष्ट्रकी**" नामक दोष का विवरण निम्न है—

उष्ट्रकी :—गायन-समय में उष्ट्र की तरह बैठा हुआ गायक[1]। उष्ट्र बैठते समय अपनी चारों टांगों को उल्टा मोड़ कर बैठता है। मनुष्य के लिये ऐसे बैठना न केवल अस्वास्थ्यकर है अपितु कुछ लोग इसे अपशकुन भी मानते हैं।

आचार्य पार्श्वदेव के अनुसार सर्वगुणयुक्त गायक उत्तम, द्वित्र गुणों से हीन मध्यम एवं चार या पांच गुणों से हीन अधम कहलाता है।[2] यहां संगीतरत्नाकरकारादि से पार्श्वदेव का मत भिन्न है। अधम गायक की कल्पना करते हुए संगीतरत्नाकर आदि ग्रन्थों में दोषयुक्त गायक को अधम कहा गया है[3] चाहे अन्यथा वह सर्वगुणसम्पन्न ही क्यों न हो। इस विषय में तत्त्वदृष्ट्या विचार करने पर उन दोनों मतों में एक मूलभूत अन्तर दृष्टिगोचर होता है। जहां संगीतरत्नाकरकारादि के द्वारा एक आदर्शस्थिति की कल्पना की गई है वहाँ संगीतसमयसार ने उस आदर्श को व्यवहार का स्पर्श देते हुए गुणों के आधिक्यन्यौन्य के द्वारा ही उत्तममध्यमाधम गायकों की परिकल्पना कर दी है।[4] अर्थात् यह आवश्यक नहीं कि दोषयुक्त गायक ही अधम होगा।

जैसा कि प्रस्तुत लेख में पहले कहा जा चुका है कि प्रस्तुत संदर्भ में उपर्युक्त गुण-दोषों को दृष्टिगत रखते हुए गायन-क्षमता के अनुसार गायकों का यह वर्गीकरण ही आचार्य पार्श्वदेव की स्वयं में एक अनूठी देन है। इस गायन-क्षमता के अनुसार ही एकल, यमल एवं वृन्दगायकों में से एकल गायक को प्रशस्यतम, यमल को प्रशस्यतर एवं वृन्दगायक को प्रशस्य मात्र ही माना गया है।[5] इस गायन-क्षमता के आधार पर ही पूर्वोक्त उत्तममध्यमाधम श्रेणी के गायकों का पुनः तीन-तीन भागों में विभाजन किया गया है। वह विभाजन विवरण पूर्वक निम्न रूप में प्रस्तुत है—

(१) उत्तमोत्तम, (२) उत्तममध्यम, (३) उत्तमाधम, (४) मध्यमोत्तम, (५) मध्यमध्यम, (६) मध्यमाधम, (७) अधमोत्तम, (८) अधममध्यम, (९) अधमाधम।[6]

(१) **उत्तमोत्तम**—शुद्ध तथा छायालग द्विविध गीत को आलप्तिपूर्वक मन्द्रमध्यतार इन तीनों स्वरसप्तकस्थानों में गा सकने वाला,

(२) **उत्तममध्यम**—उपर्युक्त प्रकारक गीतों को किन्हीं दो स्वरस्थानों में ही आलप्तिपूर्वक गा सकने वाला,

(३) **उत्तमाधम**—इन्हीं गीतों को आलप्तिपूर्वक केवल एक ही स्वरस्थान में गाने की क्षमता वाला,

(४) **मध्यमोत्तम**—शुद्ध रागों के गीतों को आलप्तिपूर्वक तीनों स्वरस्थानों में गा सकने वाला,

(५) **मध्यमध्यम**—शुद्ध रागों के गीतों को आलप्तिपूर्वक किन्हीं दो ही स्वरस्थानों में गा सकने वाला,

(६) **मध्यमाधम**—शुद्धरागीय गीत को आलप्तिपूर्वक किसी एक ही स्वर स्थान में गा सकने वाला,

(७) **अधमोत्तम**—छायालग प्रकार के रांग में सम्यक् आलप्तिपूर्वक गीत का तीनों स्वरस्थानों में गायक,

(८) **अधममध्यम**—इसी प्रकार के गीत को मात्र दो स्वरस्थानों में गा सकने वाला,

(९) **अधमाधम**—इसी प्रकार के गीत को केवल एक ही स्वरस्थान में गा सकने वाला।[7]

---

१. संगीतसमयसार ९. ८४.
२. वही, ९. ९३-९५
३. संगीतरत्नाकर, ३. १९.
४. संगीतसमयसार, ९. ९०
५. वही, ९. ८९.
६. वही, ९. ९५.
७. वही, ९. ९५—१०१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस विवरण से स्पष्ट है कि "स्थानभ्रष्ट' नामक दोष (जिसमें गायक तीनों स्वरस्थानों का प्रयोग करने में असमर्थ होता है) से युक्त गायक भी उत्तम कहला सकता है चाहे उत्तमता में उसकी कोई भी श्रेणी क्यों न हो। अतः गायन की क्षमतामात्र से ही उत्तममध्यमाधमत्वनिर्धारण आचार्य पार्श्वदेव को अभीष्ट है।

इन सम्पूर्ण गुणों, दोषों, क्षमता आदि का तारतम्य सम्यक् प्रकार से जानकर वादी-प्रतिवादियों में से जो अधिक गुणवान् अथवा प्रशस्यतर हो उसे विजयी घोषित करना सभापति का कार्य है।[1] उस तारतम्य का निश्चय करने के लिये गायकों के पारस्परिक वाद में उभय पक्षी गायकों को शुद्ध रागों में गायन के लिये एलादिविषमसूड, तादृशीहीआलप्ति तथा एकादशाङ्गुल स्थाय का प्रयोग करने के लिये कहना चाहिये। छायालग रागों में ध्रुवादि तथा विषम सूड, तादृशी आलप्ति एवं दशाङ्गुलस्थाय का प्रयोग करने के लिये निदश देना चाहिये।[2] गायिकाओं के पारस्परिकवाद में इन क्षमताओं का ध्यान रखते हुए भी उनके लिये पृथक् परीक्षण-प्रबन्ध निर्धारित किए गए हैं। तदनुसार उन्हें शुद्ध राग में सूड, आलप्ति आदि पूर्ववत् देकर स्थायी परीक्षण के लिये चतुर्दशाङ्गुल स्थायी देनी चाहिये। छायालग में भी सूड एवं आलप्ति गायकों के समान ही देकर द्वादशाङ्गुलसम्मत स्थायी प्रयोगार्थ देना अभीष्ट माना गया है।[3]

अन्त में वादी-प्रतिवादियों को एक चेतावनी देनी आवश्यक है कि वह इस प्रकार के गायन से बचें जो ऐसे बेढब गीत से युक्त हो जिसमें ताल एवं पाट अलक्षित हों, गमक की अधिकता हो, रूक्षता हो या विषमता हो। इस प्रकार के गीत प्रतियोगी को अत्यन्त प्रिय होते हैं क्योंकि यह प्रयोक्ता की छवि को बिगाड़कर प्रतियोगी की विजय का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं।

निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत लेख द्वारा वादी-प्रतिवादियों के मध्य उद्भूयमान विवाद का निर्णय करने के जो निर्देश, आचार्य पार्श्वदेव सम्मत अथवा अन्य पूर्वाचार्यों द्वारा वर्णित विषयों पर आधारित स्वरूपानुसार प्रस्तुत किये गए हैं वह निश्चय ही किसी भी संगीत के रसिक तथा जिज्ञासु अथवा अधिकारी विद्वान् के द्वारा अवश्य ही ज्ञातव्य है इसमें किंचिन्मात्र सन्देह का अवकाश नहीं होना चाहिये, ऐसा मेरा मत है।

संगीत और साहित्य

संगीत और साहित्य में घना सम्बन्ध है। साहित्य संगीत को वाणी देता है। संगीत उसे अपनी लय पर तरंगित कर दिशांत को भर देता है। साहित्य शब्द और चिन्तन प्रधान है, संगीत स्वर और नादप्रधान। साहित्य को संगीत मुखरित करता है, परन्तु संगीत की समीक्षित विवेकाविवेक की भूमि साहित्य प्रस्तुत करता है, उसे शास्त्रीय व्याकरण और विधान प्रदान करता है। संगीत का प्राण उसका नाद है, परन्तु साहित्य उसका कलेवर है। नाद वाणी की रूपरेखा में, उसकी मधुर सीमाओं में बँधता है। वाणी साहित्य का विलास है।

ध्वनि मात्र को संगीत नहीं कहते। श्रवण उसका माध्यम होता हुआ भी उसके परिचयात्मक अवयव साहित्य प्रदत्त हैं। भजन, कीर्तन, मार्ग, देशी, दरबारी, ग्राम, ध्रुपदीय, फिल्मी, धार्मिक, कामुक, उत्तरी, कर्नाटकी सब प्रकार के गीतों को साहित्य ने शब्द और वाणी की काया दी है। ललित पदावलियाँ उनकी शब्दभूमि हैं। भक्ति और तसव्वुफ ने भारत की संस्कृति में मध्य काल में एक क्रांति उपस्थित कर दी थी। उस काल के सामाजिक समन्वय द्रष्टा ऋषियों के पद से भक्ति और तसव्वुफ के आन्दोलन मुखरित हुए। कबीर और रैदास, भिखारी और दादू, मीरा और सूर, तुलसी और सिक्ख गुरु सभी ने अपनी-अपनी रीति से समाज, रहस्य और अनुचित के प्रतिकार के उपाय को देखा, वाणी में ध्वनित किया और संगीत उसे अपने पंख पर डाल दिगन्त को ले उड़ा। चैतन्य और चंडीदास उतने ही ध्वनि-सम्पन्न पदकार थे जितने जयदेव और विद्यापति रहे थे। कालिदास ने विक्रमोर्वशीय के चौथे अंक में अपभ्रंश के गीत लिखकर उसके गाने के राग भी सुझा दिये। जयदेव ने गीतगोविन्द के प्रत्येक गीत पर राग को सूचित कर दिया। विद्यापति ने बाहरमासे गाये, खुसरू ने खयाल, रहीम खानखाना ने बरवै। तीनों साहित्य के प्रबल स्तम्भ थे। मीरा, सूर और तुलसी के पद गाने के ही लिए थे। अनेक साहित्यकार और कवि स्वयं गीतकार भी थे, गायक भी। खुसरू, मीरा और तानसेन, हुसेनशाह शर्की, रूपमती और बाजबहादुर इसी परम्परा के थे। और जैसे उत्तर में हुआ वैसे ही दक्षिण में भी हुआ। विशेषकर वैष्णव भक्तों ने तो अपने पदों के संगीत से दक्षिण का वायुमंडल भर दिया। लवारों ने दक्षिण में वही किया जो उत्तर में भक्त पदकारों ने किया। साहित्य और संगीत एक प्राण दो काया हुए। □डॉ० भगवतशरण अध्याय, भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, १५०-१५२ से साभार

१. संगीतसमयसार, ६. १०४-१०५.
२. वही, ६. १०१-१०४.
३. वही, ६. ११६-११७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org